International Journal of Humanities and Social Science Research
www.socialsciencejournal.in
ISSN: 2455-2070
Received: 25-09-2022; Accepted: 10-10-2022; Published: 25-10-2022
Volume 8, Issue 5, 2022, Page No. 84-86

प्राचीन भारत में न्यायिक प्रक्रिया

डॉ हितेश शर्मा
सहायक आचार्य, इतिहास विषय, बाबू शोभाराम राजकीय कला महाविद्यालय, अलवर, राजस्थान, भारत

सारांश
प्राचीन भारत में न्यायिक प्रक्रिया एक सुव्यवस्थित, नैतिक और धर्म–आधारित प्रणाली पर आधारित थी, जिसका मुख्य उद्देश्य समाज में न्याय, संतुलन और व्यवस्था बनाए रखना था। इस व्यवस्था का आधार 'धर्म' था, जो न केवल धार्मिक बल्कि सामाजिक और नैतिक आचरण का भी मार्गदर्शक सिद्धांत था। न्यायिक प्रणाली में राजा को सर्वोच्च न्यायाधीश माना जाता था, किन्तु वह अकेले निर्णय नहीं लेता था, बल्कि विद्वानों, पुरोहितों और न्यायाधीशों (सभासदों) की सहायता से न्याय करता था।
प्राचीन ग्रंथों जैसे मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति और अर्थशास्त्र में न्यायिक प्रक्रिया का विस्तृत वर्णन मिलता है। इन ग्रंथों में कानून के स्रोत, साक्ष्य के प्रकार, दंड व्यवस्था और न्यायिक आचरण के नियम स्पष्ट रूप से निर्धारित किए गए थे। न्यायालयों को 'सभा' या 'परिषद' कहा जाता था, जहाँ मामलों की सुनवाई होती थी। साक्ष्य के रूप में गवाह, दस्तावेज और शपथ को महत्व दिया जाता था।
दंड व्यवस्था भी न्यायिक प्रक्रिया का महत्वपूर्ण हिस्सा थी, जिसमें अपराध की प्रकृति और गंभीरता के अनुसार दंड निर्धारित किया जाता था। दंड का उद्देश्य केवल दंडित करना नहीं, बल्कि सुधार और सामाजिक संतुलन बनाए रखना भी था। इस प्रकार, प्राचीन भारतीय न्यायिक प्रक्रिया नैतिकता, धर्म और सामाजिक उत्तरदायित्व के सिद्धांतों पर आधारित एक प्रभावी और संगठित प्रणाली थी, जिसने आधुनिक न्यायिक व्यवस्था की नींव रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

मुख्य शब्दः प्राचीन भारत, न्यायिक प्रक्रिया, धर्म, मनुस्मृति, अर्थशास्त्र, दंड व्यवस्था, न्यायालय, साक्ष्य, सभासद, सामाजिक न्याय

प्रस्तावना
प्राचीन न्यायिक प्रक्रिया में राजा द्वारा नियत किए गए कानूनी व्यवहार को न्यायिक धर्म की संज्ञा प्राप्त थी। हिन्दू न्यायिक प्रणाली में नियम विषय पूरक होते थे न कि कर्मकाण्डपरक तथा वे 'व्यवहार' नाम से जाने जाते थे।
प्रारम्भिक वैदिक काल में न्यायिक प्रक्रिया, न्यायालयों का स्वतंत्र संगठन, एवं न्यायिक प्रशासन की स्थापना नहीं हो पाई थी।[1] न्याय राजा की मध्यस्थता से होता था या न्यायधीश की मध्यस्थता से, लेकिन न्यायिक प्रक्रिया का संकेत नहीं मिलता। न्यायिक प्रक्रिया का स्पष्ट रूप से संकेत ब्राह्मण ग्रंथों से प्रारम्भ होता है। शतपथ ब्राह्मण में प्रश्निन, अभिप्रश्निन और प्रश्नविवाक का संकेत मिलता है लेकिन वहां वादी आदि के नियमों की व्याख्या नहीं मिलती।[2] संभवतः उस मध्यस्थता से ही विवाद का निर्णय होता होगा। किन्तुं उस काल में न्यायिक प्रशासन और प्रक्रिया का सूत्रपात होना स्वीकार किया जा सकता है। दण्ड और उसके कार्यान्वयन के लिए सहायकों की नियुक्ति का उल्लेख इस युग से प्रारम्भ हो जाता है।
धर्मसूत्र काल में न्यायिक प्रक्रिया का स्पष्टीकरण राजा के न्यायधीश होने पर होता है।[3] धर्मसूत्र काल के बाद 'व्यवहार' के रूप में न्यायिक प्रक्रिया का विवरण मिलता है। व्यवहार वेद से सम्बद्ध माना गया था।इसका संबंध लौकिक विधि से है। व्यवहार (न्यायिक प्रक्रिया) में आवेदन से लेकर साक्षी तक के अंश समाविष्ट है। इस अध्याय में व्यवहार का प्रयोग विधिय प्रक्रिया और न्यायालय में विधीय विवाद के अर्थ में किया गया है।

व्यवहार के विषय (व्यवहार–पद)
विभिन्न स्मृतियों में व्यवहार पदों की संख्या भिन्न भिन्न है। मनु कहते है कि अठ्टारह स्थानों अर्थात् शीर्षकों के अर्न्तगत विवाद के सभी कारण आ जाते है। मनु ने इनका क्रम इस प्रकार दिया है।[4]

1. ऋणादान
2. निक्षेप
3. अस्वामिविक्रय
4. सम्भूय समुत्थान
5. दत्तस्यानपाकर्म
6. वेतनादान
7. संविद्वयतिक्रम
8. क्रयविक्रयानुशय
9. स्वामिपाल विवाद
10. सीमा विवाद
11. वाक्पारुष्य
12. दण्डपारुष्य
13. स्तेय
14. साहस
15. स्त्रीसंग्रहण
16. स्त्री पुधर्म
17. विभाग (दाय)
18. द्यूत समाह्य

कौटिल्य ने 16 व्यवहारपदों का उल्लेख किया था, जिसको उन्होंने धर्मस्थीय एवं कण्टकशोधन दो भागों में विभाजित किया था।

न्यायिक प्रक्रिया
प्राचीन काल में न्यायिक प्रक्रिया के चार चरण माने गए थे–

1. वाद–पत्र का प्रस्तुतीकरण
2. प्रतिवादी का उत्तर
3. प्रमाण (1) मानुष (2) दिव्य
4. निर्णय एवं कार्यान्वयन

1. वाद पत्र का प्रस्तुतीकरण–प्रथम चरण
न्यायिक प्रक्रिया के संदर्भ में न्यायालय में समस्त सभ्यों, अमात्यो, एवं अन्य सदस्यों सहित सर्वोच्च नयायपति राजा अथवा मुख्य न्यायधीश (प्राडे्विवाक) के उपस्थित होने के पश्चात् पहला कार्य वादी द्वारा वाद पत्र का प्रस्तुतीकरण था। याज्ञवल्क्य ने वाद–पत्र को न्याय प्रक्रिया का अनिवार्य अंग माना था और उसकी शुद्धता पर विशेष बल दिया था, क्योंकि वादी द्वारा वाद में किसी प्रकार की अशुद्धि होने पर उसका पक्ष वहीं समाप्त समझा जाता था।[5]

याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार वादी द्वारा प्रस्तुत वाद में सर्वप्रथम वादी के विषय (अर्थात् उसका पूर्ण परिचय) तदुपरान्त वर्ष, माह, पक्ष, दिन, नाम तथा जाति लिखी जानी चाहिए।[6] कौटिल्य ने भी विवाद–पद के संदर्भ में वादी एवं प्रतिवादी दोनों के कथनों को लिखे जाने का समान व्यवस्था दी थी।[7]

पक्ष का प्रारम्भ किसी वादी की ओर से होता था, राज्य की ओर से नहीं। राजा या उसका कोई भी कर्मचारी पक्ष का प्रारम्भ नहीं कर सकता था, लेकिन पक्ष प्रस्तुत होने पर शांत नहीं रह सकता था। शासन द्वारा व्यवहार का प्रारम्भ कुछ अपवादपूर्ण स्थितियों में ही हो सकता था, यथा राज्य विद्रोह आदि के अतिरिक्त देव, ब्राह्मण, तपस्वी, स्त्री, बाल, वृद्ध, रुग्ण तथा अनाथ अर्थात स्वयं विवाद पक्ष प्रस्तुत करने में असमर्थ लोगों के विवाद का प्रस्तुतिकरण किया जाए।'[8] वाद पत्र के लिपिबद्ध हो जाने की स्थिति में प्रतिवादी को न्यायालय में उपस्थित कराने के लिए न्यायालय की ओर से एक व्यक्ति नियुक्त किया जाता था।

2. प्रतिवादी का उत्तर–द्वितीय चरण

न्यायालय में प्रतिवादी के उपस्थित होने पर वादी के वाद पत्र के आधार पर उससे प्रश्न किए जाते थे और प्रतिवादी का उत्तरदायित्व था कि वह उन प्रश्नों का सही उत्तर दें। यह उत्तर वादी की उपस्थिति में ही दिए जाते थे।[9] कौटिल्य के अनुसार न्यायालय द्वारा वादी से किसी बात का जवाब मांगे जाने पर उस दिन कही उत्तर न देने पर वादी पराजित समझा जाता था क्योंकि वादी अपने प्रत्येक कार्य का पहले से ही निश्चय करके दावा दायर करता था, परन्तु प्रतिवादी ऐसा नहीं कर सकता था इसलिए प्रतिवादी तुरन्त जवाब न दे सके तो उसे तीन रात से लगाकर सात रात की अवधि दी जाए।[10] ऐसा ही आदेश मनु ने मनस्मृति में दिया था।

यदि प्रतिवादी प्रकरण में आए हुए वार्तालाप के क्रम को छोड़कर किसी दूसरी और जाने लगता था, जिसका वाद से कोई संबंध ना हो, ऋण लेने आदि के स्थान को बतलाने की प्रतिज्ञा करके नहीं बतलाता था, या किसी गलत स्थान का नाम बताया था या फिर स्थान का नाम सत्य बतलाने पर ऋण लेने की बात से मुकर जाता था, साक्षियों की बात को झूठलाता था, वह प्रतिवादी पराजित समझा जाता था। "[11]

3. प्रमाण तृतीय चरण

किसी भी वाद में सत्य–असत्य का विनिश्चय प्रमाण के आधार पर ही हो सकता था। प्रमाणों अर्थात् परिसिद्धि के साधनों का विशद वर्णन और विस्तृत नियम हमें प्रायः सभी स्मृतियों एवं कौटिल्य अर्थशास्त्र में प्राप्त है। प्रमाण चार प्रकार के कहे गए थे–लिखित (दस्तावेज), युक्ति (कब्जा), साक्षी तथा इन तीनों के अभाव में चतुर्थ दिव्य (एक प्रकार की कठिन परीक्षा)[12] प्रथम तीन मानवी प्रमाण थे तथा अन्तिम को दैवी प्रमाण माना गया था। इस बात पर विशेष बल दिया गया है कि यथासंभव मानवी प्रमाणों का ही प्रयोग किया जाना चाहिए।

अ. मानुष प्रमाण

1. लेख्य

लिखित प्रमाण के अन्तर्गत जो लेख अपने हाथ से लिखा होता था वह साक्षियों के बिना भी प्रमाण होता था बशर्ते यह बलपूर्वक, छल या लोभ से न लिखा गया हो।[13] मनु के अनुसार जाली दस्तावेज प्रस्तुत करने पर कठोर दण्ड की व्यवस्था की।"[14]

2. भुक्ति (कब्जा)

परिसिद्धि के साधनों में दूसरा स्थान भुक्ति का था। कुछ विशेष विवादों में मो भुक्ति लेख से भी अधिक बड़ा प्रमाण मानी जाती थी। यथा यदि किसी भूमि के स्वामी की आंखों के समक्ष कोई अन्य व्यक्ति उसका दास वर्षों तक भोग कर रहा है और स्वामी उसका विरोध नहीं करता हो तो ऐसी स्थिति में स्वामी का स्वामित्व समाप्त हो जाता है।"[15]

3. साक्षी

परिसिद्धि का तीसरा साधन साक्षी था। लिखित और भक्ति के अभाव में साक्षी का प्रमाण प्रस्तुत किया जाता था। विवाद की स्थिति में संदेह एवं विरोध उत्पन्न होने पर सत्य का पता स्वामी द्वारा ही संभव होता था।[16] स्पष्ट है कि साक्षी वही हो सकता था जिसने स्वयं देखा सुना हो एवं जो किसी अन्य व्यक्ति से सुनकर साक्ष्य न दे।"[17] कोटिल्य, मनु आदि के मत से साधारणतः किसी मुकदमें में कम से कम तीन साक्षी होने चाहिए।[18]

साक्षी के लिए कुछ योग्यताएं आवश्यक थी। मनु के अनुसार गृहस्थ, पुत्रवान, स्थाई निवासी, चारों जाति वाले लोग, निलोभी, धर्मज्ञ साक्षी हो सकते थे।[19] कौटिल्य के अनुसार विश्वासवस एवं पवित्र चरित्र का साक्षी होना आवश्यक था।[20] गौतम का कथन था कि अपने अपने वर्ग में कृषक, व्यापारी, गोपालक, महाजन और शिल्पी साक्षी हो सकते थे।[21]

स्त्री, बालक, वृद्ध (80 वर्ष सें उपर) जुआरी, मदिरापान करने वाला,उन्मत अथवा पागल, महापातकी, पाखण्डी, बहरा, गूंगा, शत्रु, चोर, ब्रह्महत्या का पाप करने वाला अयोग्य साक्षी माने गए थे।[22] काणे महोदय ने लिखा है कि स्मृतिकार साक्षियों के विषय में बहुत ही सतर्क थे।[23] उनका कहना है कि साक्ष्य देने के पूर्व विरोधी दल साक्षी की अयोग्यता सिद्ध करने का प्रयत्न करता था परन्तु साक्ष्य देना प्रारम्भ कर देने के पश्चात् विपक्षी साक्षी की अयोग्यता प्रदर्शित नहीं कर सकता था, ऐसा करने पर वह दण्ड का भागी होता था।

साक्षी परीक्षण के लिए न्यायधीश द्वारा साक्षियों को बुलाया जाता था और उन्हे शपथ लेनी पड़ती थी। प्रत्येक साक्षी से अर्थी प्रत्यर्थी के व्यवहार के विषय में पृथक–पृथक प्रश्न किए जाते थे। न्यायधीश ऐसा प्रयत्न करता था कि साक्षी असत्य न बोल पाए।[24] साक्षी के परीक्षण में भाव परीक्षण पर जोर दिया जाता था। साक्षी के भावों के आधार पर उसके सत्य–असत्य बोलने का पता लगाया जाता था। असत्य साक्ष्य देने पर साक्षी पर जुर्माना किया जाता था। यदि वह ब्राह्मण होता तो उसे देश निकाला दिया जाता था।[25] भूमि, जल, तथा मैथुन के विषय में असत्य भाषण करने पर संपूर्ण मनुष्य जाति की हत्या का दोषी होता था तथा मधु तथा धृत के विषय में असत्य भाषण करने पर पशु विषयक असत्य भाषण दोष लगता था।[26]

दिव्य

प्रमाण के रूप में 'दिव्य' का प्रचलन प्राचीन काल के विधि शास्त्र क अनूठी विशेषता स्वीकार की जा सकती है। संभवतः अथर्ववेद में इसकी प्रथम बार झलक मिलती है। इसके बाद तो उपनिषदों में भी दिव्य के उदाहरण मिल जाते है। धर्मशास्त्रों में उसके भेद और प्रकार पर व्यवस्थित ढंग से विचार किया गया। मनु, आपस्तम्ब तथा कौटिल्य जल तथा अग्नि नामक दिव्यों का उल्लेख करते है। 'दिव्य' का तात्पर्य ही है कि जहां मानुष प्रमाण विवाद के निर्णय में असमर्थ हो जाएं उसमें निर्णय करने का माध्यम दिव्य साक्ष्य थे। याज्ञवल्क्य ने संदेह निवृत्ति के लिए पांच दिव्य बताए थे तुला, अग्नि, जल, विषय और कोश। इनका प्रयोग महाभियोगों में होता था और वह भी प्रमुख अभियुक्त के लिए अभियोक्ता के जय पराजय का भागी होने पर किया जाता था।"[27] मनुस्मृति में कहा गया था कि जब अन्य प्रमाणों से निर्णय न हो सके तो स्थान, समय एवं विवादी की शक्ति के अनुकूल दिव्य या शपथ होना चाहिए।[28] दिव्यों की संख्या में यद्यपि क्रमिक विस्तार हुआ लेकिन जहां मानवी साक्ष्य उपलब्ध हो वहां दिव्य स्पष्टतः वर्जित किया गया था।

4. निर्णय एवं कार्यान्वयन चतुर्थ चरण

याज्ञवल्क्य ने चतुर्थ पाद को सिद्धि या निर्णय का नाम दिया था। याज्ञवल्क्य के अनुसार यदि वादी साक्षी द्वारा अपने वाद को सत्य प्रमाणित कर लेता था तो वह विजयी होता था किन्तु विपरित स्थिति में वह पराजित घोषित किया जाता था।[29] धर्मशास्त्रों तथा अर्थशास्त्र ने निर्णय के आधार निश्चित किए थे, जिनके आधार

पर व्यक्ति को सही न्याय प्राप्त हो सके तथा उससे संतुष्टि मिल सके। उचित निर्णय करने वाले निम्नलिखित हेतु या आधर हो सकते थे–

अ. दृष्ट दोष– अर्थात जिसके अपराध को देख लिया गया हों

व. स्वीकारोक्ति अर्थात् जो स्वयं अपने अपराध को स्वीकार कर ले

स. सरलतापूर्वक जिरह – तर्क वितर्क

द. हेतु अपराध के कारणों को उपस्थित कर देना

य. शपथ–कसम दिलाना, ये पांचों यथा–आवश्यक अर्थ को सिद्ध करने वाले होते थे।[30]

निर्णय पर पुनर्विचार के संदर्भ में प्राचीन भारतीय न्यायिक प्रक्रिया में अपील के लिए विचार्य या पुनः विचारण तथा पुनः व्यवहार दर्शनम् शब्दों का प्रयोग मिलता था। इन शब्दों के अर्थो में कोई भिन्नता नहीं की गई थी। कदाचित यह सभी शब्द उस खुदूर अतीत तमें समानार्थी रहे होंगे और इनका आशय यही होगा कि उस सम्पूर्ण विचार का विचारण प्रारम्भ से अ तक फिर किया जाए। याज्ञवल्क्य का मत था कि सभासदों द्वारा अधमपूर्वक देखे गए व्यवहारों प राजा निर्णय पर पुनः विचार करे तथा गलत निर्णय को बदले।"[31]

न्यायालय द्वारा दिए गए निर्णयों के कार्यान्वयन का उत्तरदायित्व राज्य पर था।

न्यायालय शुल्क

न्यायालय शुल्क का विषय विद्वानों के मध्य विवाद का विषय रहा है। लेकिन यह निर्विवाद है कि प्राचीन भारतीय न्याय पद्धति में विवाद प्रस्तुत करने से पूर्व किसी भी प्रकार का शुल्क नहीं देना पड़ता था। जो कुछ भी उद्धरण इस विषय पर यत्र–तत्र मिलते है वे इस बात को पूर्णतया स्पष्ट कर देते है कि उस समय न्यायालय शुल्क तो नहीं था किन्तु कुछ विशेष परिस्थितियों में उभय पक्ष को जुर्माना अवश्य देना पड़ता था और यह जुर्माना राजा को दिया जाता था। यदि आवेदक का पक्ष असत्य सिद्ध हो जाए तो वह सम्पत्ति का दुगुना राज्य को दण्ड रूप में देता था।[32]

न्यायाशुल्क का कोई नियम प्राचीन भारतीय व्यवस्था में नहीं था। पराजित पक्षकार दण्ड रूप में व विजयी उपहार रूप में एक निश्चित अंश राजा को देते थे, जिसे कहीं कहीं राजा की भृति कहा गया था। वर्तमान शुल्क व्यवस्था की कठिनाईयां तथा जटिलताएं तब नहीं थी।

निष्कर्ष

प्राचीन भारत की न्यायिक प्रक्रिया एक संतुलित, नैतिक एवं धर्म–आधारित व्यवस्था थी, जिसका मूल उद्देश्य समाज में न्याय, शांति और सुव्यवस्था स्थापित करना था। इस प्रणाली में 'धर्म' को सर्वोच्च स्थान दिया गया, जो केवल धार्मिक सिद्धांत न होकर सामाजिक और नैतिक आचरण का व्यापक आधार था। न्यायिक व्यवस्था में राजा को सर्वोच्च अधिकार प्राप्त था, किंतु वह विद्वानों और सभासदों के परामर्श से निर्णय लेता था, जिससे निष्पक्षता और पारदर्शिता सुनिश्चित होती थी।

मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति और अर्थशास्त्र जैसे ग्रंथों ने न्यायिक प्रक्रिया को स्पष्ट दिशा प्रदान की, जिनमें कानून, साक्ष्य, दंड और न्यायिक आचरण के नियमों का सुव्यवस्थित उल्लेख मिलता है। दंड व्यवस्था का उद्देश्य केवल अपराधी को दंडित करना नहीं, बल्कि उसे सुधारना और समाज में संतुलन बनाए रखना भी था।

अतः यह कहा जा सकता है कि प्राचीन भारतीय न्यायिक प्रणाली केवल विधिक ढांचे तक सीमित नहीं थी, बल्कि वह नैतिक मूल्यों और सामाजिक उत्तरदायित्व पर आधारित एक समग्र व्यवस्था थी। इस प्रणाली ने आधुनिक न्यायिक ढांचे के विकास में महत्वपूर्ण आधार प्रदान किया और आज भी इसके सिद्धांत प्रासंगिक बने हुए हैं।

संदर्भ सूचि

1. वैदिक इंडेक्स, जिल्द 1. पृ. 391–392
2. शतपथ ब्राह्मण 5/4/4/7
3. गौतम धर्मसूत्र 3/10/48–49, आपस्तंब धर्मसूत्र 2/11/5. ,बौधायन धर्मसूत्र 1/1/7–16
4. मनुस्मृति 8/4–7
5. याज्ञवल्क्य स्मृति, हिन्दी व्याख्याकार, डॉ. उमेशचन्द्र पाण्डेय, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1983, 2/5
6. वहीं 2/6
7. अर्थशास्त्र 3/1/57–58/19 7.
8. वहीं 3/20/74–75/28
9. याज्ञवल्क्य स्मृति 2/7
10. अर्थशास्त्र 3/1/57–58/40–41
11. वहीं 3/1/57–58/21–30
12. याज्ञवल्क्य स्मृति 2/22
13. वहीं 2/89
14. मनुस्मृति 9/232
15. वहीं 8/147
16. वहीं 8/74, अर्थशास्त्र 3/11/63 सम्पूर्ण अध्याय
17. वहीं 8/74–76
18. वहीं 8/60, अर्थशास्त्र 3/11/63/32
19. वहीं 8/62–63, अर्थशास्त्र 3/11/63/66
20. अर्थशास्त्र 3/11/63/32
21. गौतम धर्मसूत्र 2/2/21
22. अर्थशास्त्र 3/11/63/40–41
23. काणे, पी.वी., पूर्वोक्त भाग–2, पृ. 138
24. गौतम धर्मसूत्र 1/10/19
25. मनुस्मृति 8/117, 123
26. गौतम धर्मसूत्र 2/4/16–20
27. याज्ञवल्क्य स्मृति 2/95
28. मनुस्मृति 8/109
29. याज्ञवल्क्य स्मृति 2/8
30. अर्थशास्त्र 3/1/57–58
31. याज्ञवल्क्य स्मृति 2/305–306
32. मनुस्मृति 8/139